Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2020 GISRRJ | Volume 3 | Issue 1 | ISSN : 2582-0095

हिन्दी दलित आत्मकथाओं की विकास यात्रा

प्रसेन जीत सागर
असिस्टेन्ट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
डॉ0 राजेश्वर सेवाश्रम महाविद्यालय
ढिंढुई, प्रतापगढ़, उत्तर प्रदेश, भारत।

सारांश – हिन्दी साहित्य में दलित आत्मकथाएं दलितों, पिछड़ों और स्त्रियों के लिए लड़ने का साहस प्रदान करता है तथा साथ ही साथ अपने जीवन को सुन्दर बनाने का संदेश देता है। ये आत्मकथाएं भारतीय इतिहास का दस्तावेज है। इन आत्मकथाओं से दलित वर्ग अपने अधिकारों के प्रति संगठित और सचेत होता है। शिक्षा के प्रति जागृत एवं नवीन चेतना पैदा होती है। आत्मकथा विधा से हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है।

मुख्यशब्द – हिन्दी, दलित, साहित्य, आत्मकथा, पिछड़, स्त्रिय, भारतीय, इतिहास।

हिन्दी दलित साहित्य में आत्मकथा लेखन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इन आत्मकथाओं में दलितों ने सवर्ण समाज द्वारा दी गई पीड़ा को भोगा है, उन्हीं का यथार्थ चित्रण है। सदियों की गुलामी, विषमता, अमानवीयता में जीने को बाध्य होने के बाद बदलते सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश के माध्यम से दलितों में जिस चेतना के बीज अंकुरित हुए हैं, उनका एक विहंगम दृश्य इन आत्मकथाओं में देखने को मिलता है। दलित साहित्यकारों की रचनाओं ने और विशेषकर आत्मकथाओं ने समाज के सम्मुख यह उधाड़ कर रख दिया कि हमने कैसी क्रूर, निर्दयी व्यवस्था में सांस लेते हुए घुटनभरी जिंदगी जी है और वह सभ्य और सुसंस्कृत कहीं जाने वाली भारतीय सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवस्था में । दलित रचनाकारों ने समाज के उस वर्ग की दुःख–दर्द, हंसी–खुशी तथा जीवन के अनेक ऐसे पहलुओं को वाणी प्रदान की है, जिसको हजारों वर्षों से वंचित रखा गया है । इसके साथ ही बदलते सन्दर्भों में दलित समाज में जो संघर्ष व चेतना उभरकर आई है, दलित आत्मकथाकारों ने उसको भी अपनी रचनात्मक भाव भूमि को आधार बनाया है ।

साठ के दशक में दलित आत्मकथाओं का आना किसी क्रान्ति से कम नहीं था, पहले यह मराठी साहित्य में आया फिर यह हिन्दी साहित्य में आया, साहित्य में यह क्रान्तिकारी परिवर्तन का दौर रहा है। सामाजिक बदलाव की इस धारा का किसी ने समर्थन किया तो किसी ने विरोध, कहीं सहमति थी तो कहीं असहमति । इन दलित साहित्य में सबकुछ यथार्थ है, यहॉ किसी प्रकार का बनावटीपन नहीं है । मोहनदास नैमिशराय का मानना है कि दलित साहित्य के जीवन से रिश्ते रहे हैं, आन्दोलन उनकी ऊर्जा है। मेरी राय में वह जीवन उनका अपना है, उसे उन्होंने अपनी मर्जी से जीने की शुरूआत की, आखिर वे कब तक वे हिन्दू धर्म की परम्पराओं तथा प्रथाओं को ओढ़ते–बिछाते रहते, कब तक वे सामन्तों, पुरोहितों के सामने याचक बने खड़े रहते? देर से ही सही उन्होंने अपने फैसले स्वयं लिए।

इस तरह दलित आत्मकथाओं मे शिद्दत के साथ संघर्ष रेखांकित हुआ। उसके दुःख–दर्द के साथ पीड़ा के स्वर उभरे। सच कहा जाए तो इन आत्मकथाओं ने सामाजिक चेतना जगायी है। दलित चेतना इन आत्मकथाओं का प्राण है । दलित लेखक का प्रयोजन स्पष्ट है वह केवल सहानुभूति नहीं चाहता। उसका अनुभव प्रतिनिधित्व करता है। वह समाज को आवाज देता है। वह विषम सामाजिक व्यवस्था और उसके शोषण के तरीकों को बेनकाब करता है। दलित आत्मकथाओं में शोषण का इतिहास है। शोषण का विरोध है । गुलामों को गुलामी का अहसास कराना इनका उद्देश्य है।

''आत्मकथाएं दलित लेखकों के अदम्य जीवन–संघर्ष के साथ आगे बढ़ने का संदेश देती है क्योंकि दलित आत्मकथाकार बताना चाहते हैं कि जो नारकीय जीवन हमें मिला, उसमें व्यक्ति विशेष का अपराध नहीं है, शिक्षा साहित्य, भूमि आदि उत्पादन के साधनों से वंचित और सामाजिक गतिविधियों से अलग–थलग कर हमें मजबूर बना दिया गया। यह हमारे पूर्व जन्मों के कारण नहीं है, बल्कि पक्षपातपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की नियति के कारण है।[1]

दलित आत्मकथाओं पर अपनी पैनी नजर दौड़ाने से उन आत्मकथाओं के मर्म को समझा जा सकता है। इन दलित आत्मकथाओं में दलित साहित्यकार स्वयं के जीवन में भोगे तथा जिए हुए यथार्थ को खोलकर रखने में सफल रहे हैं। अतीत की घटनाओं को रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करना दलित आत्मकथाकार के लिए दुबारा उसी पीड़ा का अनुभव होता है। फिर भी दलित आत्मकथाकार अपने जीवन की त्रासदी को गति प्रदान करता है। ये आत्मकथाएं बंधुता, समता, स्वतंत्रता और सामाजिक व्यवस्था को संतुलित बनाये रखने पर जोर देती है।

डॉ0 जय प्रकाश कर्दम का कहना है–''समाज के जिस विद्रूप, बीभत्स, क्रूर और अमानवीय चेहरे पर गैर दलित लेखक पर्दा डालते आये थे और समाज जिस सच से साक्षात् नहीं करना चाहता था, इन आत्मकथाओं ने समाज के उस नग्न सच को बेपरदा किया।''

समाज के सवर्णों ने दलितों के लिए जो विषाक्त वातावरण पैदा किया उसी के परिणाम स्वरूप दलितों के जीवन में गरीबी, अभाव, अशिक्षा, छुआछूत, भूख, जातीय भेद–भाव, शोषण तथा अमानुषिक आदि में बीत रहा है। दलित इसी कलुषित व्यवस्था का शिकार होता रहा है। जय प्रकाश कर्दम के विचार में ''आत्मकथा लिखना निःसंदेह एक हिम्मत और जोखिम का काम है, बल्कि यूं कहिए कि तलवार की धार पर नंगे पैर चलना है। यदि लेखक सच्चाई पर टिका रहेगा तो उसका लहूलुहान होना लगभग निश्चित है, क्योंकि आत्मकथा नंगी सच्चाई की मांग करती है और इतना साहस बहुत कम लोगों में होता है, जो सामाजिक यथार्थ के साथ–साथ अपने जीवन के नंगे यथार्थ का सार्वजनिक प्रदर्शन कर सके।''[2]

आत्मकथाओं में जातीय संकीर्णता से बाहर निकलने की छटपटाहट है तथा संघर्ष की ओर आगे बढ़ने की सीख भी देता है। यहां दलित के जन्म के साथ दुखों की खाई भी प्रारम्भ होती है। इसीलिए दलित आत्मकथाएं अपनी अंतर्वेदना को अभिव्यक्ति करने में सक्षम दिखाई पड़ती है । इन आत्मकथाओं में जीवन अनुभव तथा आपबीती के साथ–साथ हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के पोल खोलने में दलित आत्मकथाएं सफल रही है। दलित जीवन की पीड़ाएं, असहनीय और अनुभव दग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी व्यवस्था में हमने साँसे ली है, जो बेहद क्रूर और अमानवीय है। दलितों के प्रति असंवेदनशील है। इस प्रकार एक दलित साहित्यकार को अपनी आत्मकथा के लिए कई वर्ष तपना पड़ता है। उसे दुहरी मानसिक वेदना से जूझना पड़ता है। 'जूठन' में इस मानसिक वेदना के खुलासे को देखा जा सकता है। 'अपने–अपने पिंजरे' के लेखक मोहनदास नैमिशराय आत्मकथा लेखन को दोहरा संकट मानते हैं। उनका कहना है कि'' दलित आत्मकथा लिखने

के तो दोहरे संकट हैं। दलित कथाकार को पहले स्वयं अपने समाज/जाति/परिवार और रिश्तेदारों से जूझना पड़ता है । बाद में सवर्ण जाति के समीक्षकों से भी उलझना जरूरी हो जाता है। जो शालीनता तथा अश्लीलता की विपरीत शब्दावलियों के बहाने ऐसे कथाकारों को कोसना कतई नहीं भूलते हैं।''[3] आगे वे कहते हैं कि 'हिन्दी में जितनी भी दलित आत्मकथाएं आएंगी, दलित साहित्य का फलक उतना ही बढ़ेगा।

दलित आत्मकथाओं ने साहित्य में एक नये विमर्श का सूत्रपात किया है। हिन्दी में कल तक जो साहित्य की श्रेष्ठता थी, उस पर इन आत्मकथाओं ने प्रश्नचिन्ह लगाया है। सुधीश पचौरी लिखते हैं–हिन्दी के विकास–मूलक वृत्तान्त के बीच यह क्या है, जो कल तक 'सार्वभौमिक कहे जाते अनुभव' को एक जाति के लिए एक्सक्लूसिव बनाकर उसे फाइटिंग पावर भी देता है और जतन से बनाये गए साहित्य के केन्द्रवाद को हिला रहा है।''[4]

साहित्य की अन्य विधाओं की भांति हिन्दी दलित आत्मकथा लेखन पर भी मराठी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। सन् 1960 में मराठी दलित लेखन हिन्दी में लगभग 1980 के बाद व्यापक रूप में दिखाई देती है। हिन्दी में मराठी से अनुदित दया पवार की 'अछूत' लक्ष्मण गायकवाड़ की 'उचक्का', लक्ष्मण माने की 'उपरा', बेबी काम्बले की 'हमारा जीवन' शरण कुमार लिम्बाले की अक्करमाशी और अन्य कई मराठी रचनाओं की उपस्थिति ने आत्मकथा द्वारा दलित जीवन की विसंगतियों को उजागर करने के लिए प्रेरित किया है। मराठी की तरह पंजाबी को प्रथम दलित आत्मकथा प्रेम गोरखी की 'गैर हाजिर आदमी', लाल सिंह की 'दस्तान' बलबीर माधोपुरी की 'छांग्या रूख' आदि ने भी हिन्दी में आत्मकथा लेखन को प्रभावित किया। दलित आत्मकथाएं दलित समाज के ऐसे दस्तावेज हैं जो दलित जीवन को ऐतिहासिक त्रासदी को व्यक्त करते हैं। राजेश पासवान लिखते हैं दलित समाज का अलग से कोई इतिहास नहीं है, ''लेकिन उसकी संवेदना, चेतना और अपेक्षाएं, दलित समाज के लोगों में जरूर रहती है, जिन्हें दलित आत्मकथाओं में देखा जा सकता है।''[5]

डॉ0 तेज सिंह लिखते हैं कि दलित आत्मकथाएं मराठी साहित्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि है, जो एक सशक्त विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। उसी परम्परा में हिन्दी में भी आत्मकथाएं लिखने का सिलसिला चला। मेहतर जाति के इतिहास को आत्मकथात्मक रूप में प्रस्तुत करने वाली भगवान दास की 'मैं भंगी हूँ' के कई संस्करण निकले। 1994 में 'आज के प्रश्न' श्रृंखला के अन्तर्गत राजकिशोर द्वारा सम्पादित पुस्तक हरिजन से दलित में ओम प्रकाश वाल्मीकि के आत्मकथात्मक आलेख 'एक दलित की आत्मकथा' के प्रकाशित होने तक उसकी कोई खास चर्चा नहीं होती थी। 1995 में मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' के प्रकाशित होते ही 'मैं भंगी हूँ की भी सब जगह चर्चा होने लगी। 'अपने–अपने पिंजरे' को हिन्दी की पहली दलित आत्मकथा मानी जाती है । साहित्य के क्षेत्र में इसकी व्यापक चर्चा हुई है। अब तक तीन भागों में प्रकाशित हुई है । इसके बाद 1997 में ओम प्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' नामक आत्मकथा प्रकाशित हुई और प्रमुख चर्चा में रही । 'जूठन' भाग–2 2015 में प्रकाशित हुई। इसी श्रृंखला में कौशल्या वैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' 1999, के0 नाथ की 'तिरस्कार' 1999, 'जाति अपराध' 2005, 'कांटों में उलझता जीवन' 2011, तथा 'चरवाह' 2013, डी0आर0 जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंजिल' 2000, माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन' 2002, सूरजलाल चौहान की 'तिरस्कृत' 2002, तथा 'संतृप्त' 2006, डॉ0 श्यामलाल की 'एक भंगी कुलपति की अनकही कहानी' 2004, नवेन्दु महर्षि की 'इंसान से ईश्वर तक' 2006, 'मेरे मन की बाइबिल' 2007, 'रूकी हुई रोशनी' 2011, रमाशंकर आर्य की 'घुटन' 2007, रूप नारायण सोनकर की 'नागफनी' 2007, श्योराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' 2009, डॉ0 धर्मवीर भारती की 'मेरी पत्नी और भेड़िया' 2009, डॉ0 तुलसीराम की 'मुर्दहिया' 2010 और 'मणिकर्णिका' 2014, सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द'

2011, संतराम आर्य की 'मेरा अतीत' 2012, उमेश कुमार सिंह की 'दुःख–सुख के सफर में' 2014, विश्वनाथ राम की 'गोबरहा' 2016, रजनी तिलक की 'अपनी जमीं अपना आसमां' आदि आत्मकथाएं पिछले दो दशकों में प्रकाश में आयी हैं।

हिन्दी की इन दलित आत्मकथाओं में शोषण, उत्पीड़न का अन्तहीन सिलसिला है। 'अपने–अपने पिंजरे' से लेकर 'मणिकर्णिका' व 'गोबरहा' तक दलित आत्मकथा लेखन की लम्बी श्रृंखला है। इन आत्मकथाओं तक दलित आत्मकथा लेखन की लम्बी श्रृंखला है। इन आत्मकथाओं में आक्रोश और इतिहास के कहे पन्नों को देखना–परखना दलित आत्मकथाकारों की इच्छा है, परन्तु वह अपने को अभिव्यक्त करते हुए दुःख, यातना, पीड़ा, दर्द से वह कराह उठता है। इन दलित आत्मकथाओं में दलित जीवन की मूलभूत समस्याओं को दर्शाया गया है । दलित उत्पीड़न, शोषण, गरीबी, अशिक्षा, जातीय भेद–भाव, अस्पृश्यता, कुप्रथा, पिछड़ापन, अज्ञानता, आन्तरिक जातिवाद आदि ऐसी समस्याएं हैं जो लगभग सभी आत्मकथाओं में पड़ताल करने पर पता चलता है कि समान है ।

'अपने–अपने पिंजरे' में दलित समाज की जिन्दगी और उनकी समस्याओं के माध्यम से एक ऐसे समय और समाज को हमारे सामने लाकर खड़ा करती है, जिसकी वास्तविकता से हम लगभग अछूते थे। अगर हम उनसे सामाजिक जिन्दगी में परिचित भी थे तो उनसे टकराने का साहस हमने कभी नहीं किया। फलतः 'अपने–अपने पिंजरे' में स्वयं मोहनदास नैमिशराय जी ने अपने जीवन के 18 वर्षों तक की कहानी को अंकित कर उस व्यवस्था के प्रति अपना आक्रोश भी प्रकट किया है। बचपन से जवानी तक मिले जख्मों को वे सहते आये, उन्हें संग लेकर चले, जख्मों की हिसाब–किताब रखते हुए अपने आत्मकथा की रचना की। डॉ0 महीप सिंह 'अपने–अपने पिंजरे' को आत्मकथा न मानकर 'आत्मवृत्त' कहते हैं, जिसमें लेखक ने भारतीय सामाजिक संरचना की विषम और अन्यायपूर्ण व्यवस्था के आन्तरिक सच्चाइयों को सामने रखने का प्रयास किया है, इसमें वे अपने तथा समाज के अतीत और वर्तमान के विश्लेषण द्वारा भविष्य का रास्ता बनाना चाहते हैं, ''उन्होंने अपने जीवन की उन तल्ख और निर्मम सच्चाइयों को इसमें उकेरा है, जिनमें मानवीय पीड़ा अपनी पूरी सघनता के साथ व्यक्त हुई है। इसका सबसे बड़ा कारण व्यक्ति के ऊपर सड़ी–गली व्यवस्था का वह आरोपण है, जिसके प्रति वह विवश होकर सब कुछ सहते जाने के लिए अभिशप्त रहा है।''[6]

हिन्दी साहित्य में दलित आत्मकथाएं दलितों, पिछड़ों और स्त्रियों के लिए लड़ने का साहस प्रदान करता है तथा साथ ही साथ अपने जीवन को सुन्दर बनाने का संदेश देता है। ये आत्मकथाएं भारतीय इतिहास का दस्तावेज है। इन आत्मकथाओं से दलित वर्ग अपने अधिकारों के प्रति संगठित और सचेत होता है। शिक्षा के प्रति जागृत एवं नवीन चेतना पैदा होती है। आत्मकथा विधा से हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है।

सन्दर्भ :–

1. मोहनदास नैमिशराय, हिन्दी दलित साहित्य, साहित्य अकादमी रवीन्द्र भवन 35 नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018 पृ0सं0 172
2. जयप्रकाश कर्दम, नया मानदंड, (दलित आत्मकथा पर केन्द्रित अंक) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शोध संस्था दुर्गा कुंड, वाराणसी, 2003 पृ0सं0 15

3. मोहनदास नैमिशराय, हिन्दी दलित साहित्य, साहित्य अकादमी रवीन्द्र भवन 35 नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018 पृ0सं0 201
4. सुधीश पचौरी, कुछ उत्तर उपन्यास, कुछ उत्तर आधुनिक क्षण और कुछ उत्तर औपनिवेशिक पाठ, वर्तमान साहित्य, अंक–जनवरी–फरवरी, 2000 पृ0सं0 285–287
5. राजेश पासवान, दलित आत्मकथाओं की जरूरत, हंस, अगस्त 2004, पृ0सं0 106
6. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे की भूमिका से डॉ0 महीप सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली पृ0सं0 8